

आतस दुनीआ खुनक नामु खुदाइआ ॥ कलि ताती ठांढा हरि नाउ ॥

भाग — 1

मायिकी संसार— पाँच तत्व (वायु, जल, अग्नि, धरती, तथा आकाश) के मिश्रण द्वारा रचा गया है। इन तत्वों में से 'अग्नि' एक प्राकृतिक 'तत्व' है।

यह अग्नि कई प्रकार की मानी गई है —

1. बाह्य अग्नि — जो दृश्यमान है तथा महसूस होती है, जैसे लकड़ी, कोयले, बिजली, गैस, तेल आदि की अग्नि। इसे हम अपनी मर्जी से जला या बुझा सकते हैं।

2. शारीरिक अग्नि — यह प्रत्येक शरीर के अन्दर अदृश्य रूप में ओतओत परिपूर्ण है तथा इसे हमारी 'जीवनअग्नि' (vital life heat) कहा जाता है। इसी जठरअग्नि द्वारा, माँ के उदर में बच्चे का पालन होता है। जब जीव की मृत्यु हो जाती है तब उसके शरीर को 'ठण्डा हो गया' कहा जाता है।

3. तत् अग्नि — जैसे सूर्य की गर्मी, धरती की भीतरी गर्मी, आकाश की विद्युत्, बम्ब की विस्फोटक तत्अग्नि आदि। सूर्य की गर्मी तो हमारे पदार्थिकजीवन का आधार है। परन्तु अन्य कई तत्वों (elements) की अग्नि अत्यन्त हानिकारक होती है।

4. मानसिक अग्नि — जो हमारे विचारों के भावुक जोश से उत्पन्न होती है। यह गुप्त अग्नि है — दिखाई नहीं देती।

गूझी भाहि जलै संसारा भगत न बिआपै माइआ ॥ (पृ. 673)

यह मानसिक अग्नि —

दिखाई नहीं देती

गुप्त है

भेद भरी है

सर्व-व्यापी है

ऊँच-नीच में सामान्य है

रवि-रही परिपूर्ण है

सदैव प्रवृत्त है

सारे संसार को लगी हुई है

हमें भी लगी हुई है

इसके परिणाम अत्यधिक भयानक हैं

इसकी लपटों में हम तड़पते हैं

अत्यंत दुखी होते हैं,

‘हाय-हाय’ करते हैं,

त्राहि-त्राहि करते हैं,

शिकायतें करते हैं,

शिकवे-शिकायत करते हैं,

नरक भोगते हैं।

परन्तु, फिर भी इस भयानक ‘अग्नि-शोक-सागर’ में से निकलने का या बचने का हमें कोई —

ख्याल ही नहीं,

फिकर ही नहीं,

उद्यम ही नहीं,

योजना ही नहीं !!!

यह बहुत आश्चर्य की बात है कि समस्त योनियों का सिरताज तथा बुद्धिमान, अफलातून इन्सान ही, अन्य समस्त जीवों की अपेक्षा इस 'गुप्त मानसिक अग्नि' में अधिक जल-भुन रहा है तथा अनगिनत सुख-आराम भोगता हुआ भी, सबसे अधिक दुखी हो रहा है !

इसलिए ऐसी सर्वज्ञ गुप्त 'अग्नि' तथा उसके भयानक परिणामों को समझने, बूझने, पहचानने की अति आवश्यकता है ।

गुरुबाणी के प्रकाश में इस अति आवश्यक तथा दीर्घ विषय को खोजने तथा समझने का इस लेख में प्रयास किया जाता है ।

सृष्टि में दो भिन्न-भिन्न मंडल हैं —

1. आत्मिक मंडल : जिसमें दैवीय गुण —

दिव्य प्रकाश

स्त

शब्द

हुकुम

नाम

प्यार

प्रेम-स्वैपना

निर्मलता

दैवीय भावनाएं

आत्म रंग

महा-सुख

सदा-सुख

शान्ति

शीतलता

का प्रवेश तथा प्रकटाव है ।

2. मायिकी मानसिक मंडल : जिस में —

अज्ञानता का अन्धकार

अहंकार का भ्रम

तुच्छ रुचियाँ

काम की आंधी

क्रोध की अग्नि

लोभ की लहर

मोह की ममता

मै-मेरी की पकड़

स्वार्थ

ईर्ष्या

द्वैत

जन्म

कुट्टन

अशान्ति

दुःख

क्लेश

की प्रधानता तथा व्यवहार है ।

गुरबाणी में जिसे 'अग्नि' कहा गया है — वह मायिकी मंडल के असुरी अवगुणों की 'प्रचंड ज्वाला' है । हम अपने मन में — स्वयं ही यह अग्नि प्रज्ज्वलित कर, स्वयं ही जल-भुन रहे हैं ।

गुरबाणी में हमारी इस दयनीय दशा को यूँ दर्शाया गया है —

जीअड़ा अगनि बराबरि तपै भीतरि वगै काती ॥

प्रणवति नानकु हुकमु पछाणै सुखु होवै दिनु राती ॥ (पृ. 156)

| | |
|---|------------|
| अंतरि अग्नि बाहरि तनु सुआह ॥ | |
| गलि पाथर कैसे तरै अथाह ॥ | (पृ. 267) |
| जिह पावक सुरि नर है जारे ॥ | |
| राम उदकि जन जलत उबारे ॥ | (पृ. 323) |
| सरीरु जलउ गुण बाहरा जो गुर कार न कमाइ ॥ | |
| जगत् जलंदा डिठु मै हउमै दूजै भाइ ॥ | (पृ. 651) |
| किउ सिमरी सिवरिआ नही जाइ ॥ | |
| तपै हिआउ जीअड़ा बिललाइ ॥ | (पृ. 661) |
| जीउ तपतु है बारो बार ॥ | |
| तपि तपि खपै बहुतु बेकार ॥ | |
| जै तनि बाणी विसरि जाइ ॥ | |
| जिउ पका रोगी विललाइ ॥ | (पृ. 661) |
| अंतरि अग्नि जलै भड़कारे ॥ | |
| मनमुखु तके कुंडा चारे ॥ | (पृ. 1022) |
| फरीदा मै जानिआ दुखु मुझ कू दुखु सबाइए जगि ॥ | |
| ऊचे चड़ि कै देखिआ तां घरि घरि एहा अगि ॥ | (पृ. 1382) |
| रंगि न राता रसि नही माता ॥ | |
| बिनु गुर सबदै जलि बलि ताता ॥ | (पृ. 945) |
| परन्तु हमें अपनी दयनीय दशा के विषय में — | |

पता ही नहीं

अहसास ही नहीं

सूझ ही नहीं

समझ ही नहीं

ज्ञान ही नहीं ।

इस प्रकार अपनी अज्ञानता के कारण, इस गुप्त अन्दरूनी मानसिक 'अग्नि' में पल-पल, दिन-रात, सारी उम्र, उपलों की आग की भाँति, हम स्वयं भी —

सुलगते
जलते
भुनते
कुढ़ते
दुरवी होते

हुए, नरक भोगते हैं, तथा अपने संगी-साथियों को भी इसी गुप्त अग्नि की 'चिंगारी' लगाए जाते हैं ।

पड़ि पड़ितु अवरा समझाए ॥

घर जलते की खबरि न पाए ॥ (पृ. 1046)

किझु न बुझै किझु न सुझै दुनीआ गुझी भाहि । (पृ. 1378)

आसा मनसा मोहणी तामसु तिसना साँति न आवै ।

बलदी अंदरि तेलु पाइ किउ मनु मूरखु अगि बुझावै ।

(वा. भा. गु. 1519)

चितवणीआ लख राति दिहु त्रास न तिसना अगनि बुझाए ।

सोइना रुपा अगला माणक मोती अंगि हंढाए ।

पाट पटंबर पैन्ह के चोआ चंदन मह महकाए ।

हाथी घोड़े पारवरे महल बगीचे सुफल फलाए ।

सुंदर नारी सेज सुख माइआ मोहि धोहि लपटाए ।

बलदी अंदरि तेल जिउ आसा मनसा दुखि विहाए ।

गुर पूरे विणु जमपुरि जाइ । (वा. भा. गु. 15@19)

आश्चर्य की बात तो यह है, कि हमारा कठोर हुआ मन — यह मानने को तैयार ही नहीं है कि हमारे भीतर भी कोई गुप्त अग्नि की

चिंगारी है, जो हृदय में सदैव सुलगती तथा भभकती रहती है !!

बाहर से तो हम बहुत सज्जन, सुशील तथा 'भद्र-पुरुष' (civilized and refined) बने रहते हैं। परन्तु हमारे हृदय तल में, मन की गहराइयों में, अनेक भावों की 'मानसिक अग्नि' की गुप्त तुच्छ रुचियों के अंश या मलिन भावनाएँ, जैसे —

ईर्ष्या

द्वेष

जन्म

कुढ़न

काम

क्रोध

लोभ

मोह

अहंकार

आदि, उपलों की अग्नि की भांति, अन्दर-ही-अन्दर गुप्त रूप में सुलगती रहती है। ज्यों-ज्यों हम इन मलिन भावनाओं को बार-बार याद करते हैं — त्यों त्यों, इनकी आग तीव्र होती जाती है, तथा धीरे-धीरे ज्वालामुखी की भांति प्रचंड लपटें बन कर फूटती हैं, जिसके लावे (lava) से अत्यन्त तबाही होती है।

जब कभी इन गुप्त भावुक चिंगारियों को बाहरी उक्साहट की हवा (exciting cause) लगती है, तब यह चिंगारियां तीव्र होकर प्रचंड ज्वाला का रूप धार लेती है जिससे हमारा तन-मन भस्म हो जाता है।

इस प्रकार स्वयं लगाए हुए इस भीषण ताप से हम एक दूसरे को भस्म किये जाते हैं।

जब हम इस प्रकार जल-भुन कर निढाल तथा विवश हो जाते हैं, तब ही मानते हैं कि हमारे अन्दर तन-बदन में आग लगी हुई है। परन्तु यह ढीठ मन शीघ्र ही सब कुछ भूल जाता है, तथा फिर स्वयं

मचाए हुए अग्नि-कुंट मे से, बाकी सुलगते अंगारे एकत्रित करके,
अपनी ही मानसिक राख में, दबा कर, संभाल कर रख लेता है ।

इस प्रकार हम स्वयं ही अपना अमूल्य जीवन तबाह कर रहे हैं ।

दूसरे शब्दों में, हम सब ने मिल-जुल कर सामूहिक रूप में, सारे संसार को यह अति हानिकारक, दुखदायी, गुप्त मानसिक 'अग्नि' लगायी हुई है, जिसमें सारा संसार गुप्त रूप से 'जल-भुन' रहा है ।

इस बात की पुष्टि, गुरबाणी यूँ करती है —

गूझी भाहि जलै संसारा भगत न बिआपै माइआ ॥ (पृ. 673)

अग्नि कुटंब सागर संसार ॥

भरम मोह अगिआन अंधार ॥ (पृ. 675)

माइआ अग्नि जलै संसारे ॥

गुरमुखि निवारै सबदि वीचारे ॥ (पृ. 1049)

पापी का घरु अगने माहि ॥

जलत रहै मिटवै कब नाहि ॥ (पृ. 1165)

आतस दुनीआ खुनक नामु खुदाइआ ॥ (पृ. 1291)

मनमुख बोलै अंधुले तिसु महि अग्नी का वासु ॥ (पृ. 1415)

निरवैरै नालि वैरु रचाइदा अपणै घरि लूकी लाइ ॥

अंतरि क्रोधु अंहकारु है अनदिनु जलै सदा दुखु पाइ ॥ (पृ. 1415)

इहु जगु जलता नदरी आइआ गुर कै सबदि सुभाइ ॥ (पृ. 643)

सिव बिरंच अरु इंद्र लोक ता महि जलतौ फिरिआ ॥ (पृ. 1219)

सिव बिरंचि असुर सुर जेते काल अग्नि महि जरते ॥ (पृ. 1267)

बाबा देखै धिआन धरि जलती सभि प्रिथवी दिसि आई ।

(वा. भा. गु. 1@24)

‘अग्नि’ एक ‘तत्त्व’ है, परन्तु लकड़ी, कोयले, बिजली, गैस आदि की लपटों के प्रकाश तथा प्रकटाव में **भिन्नता** है। इसी प्रकार हमारे अन्दर यह गुप्त ‘मानसिक अग्नि’ तो एक ही है, परन्तु हमारे मन की **वाशनाओं** — अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या, द्वैत की भावनाओं अनुसार — इस गुप्त अग्नि की प्रवृत्ति, प्रकृति, प्रकाश तथा प्रकटाव **भिन्न-भिन्न होता है** ।

याद रखने वाली आवश्यक बात यह है कि, जिस प्रकार ‘प्रकाश’ में अन्धकार **नहीं हो सकता**, तथा चन्द्रमा के शीतल प्रकाश में गर्मी नहीं हो सकती — उसी प्रकार **आत्मिक मंडल के शीतल प्रकाश में ‘मानसिक अग्नि’ का ताप नहीं हो सकता** ।

यह ‘मानसिक अग्नि’ केवल **मायिकी मंडल के दायरे तक सीमित है** ।

आतस दुनीआ खुनक नामु खुदाइआ ॥ (पृ. 1291)

इस ‘मायिकी मंडल’ का भी **अपना कोई अस्तित्व नहीं है**। इस का अस्तित्व केवल हमारे भ्रम-ग्रस्त मन की **कल्पनाओं तथा भावनाओं पर ही आधारित है** ।

इसी कारण गुरबाणी में माया को **‘मानसिक अग्नि’ के तुल्य** कहा गया है : -

जैसी अग्नि उदर महि तैसी बाहरि माइआ ॥

माइआ अग्नि सभ इको जेही करतै खेलु रचाइआ ॥ (पृ. 921)

मनमुख माइआ मोहि विआपे दूजै भाइ मनूआ थिरु नाहि ॥

अनदिनु जलत रहहि दिनु राती हउमै खपहि खपाहि ॥ (पृ. 652)

साकत मूड माइआ के बधिक विचि माइआ फिरहि फिरंदे ॥

त्रिसना जलत किरत के बाधे जिउ तेली बलद भवदे ॥ (पृ. 800)

माइआ मोहु अंधु अंधारा ॥

हउमै मेरा पसरिआ पासारा ॥

अनदिनु जलत रहै दिनु राती गुर बिनु सांति न होई हे ॥

(पृ. 1045)

माइआ अगनि जलै संसारे ॥

गुरमुखि निवारै सबदि वीचारे ॥

(पृ. 1049)

हमारा मन, मायिकी भ्रम-भुलाव में, अपने अन्तर-आत्मा में स्थित 'निज घर' अथवा स्थिर मंडल में से निकलकर तुच्छ वाशनाओं के अधीन अहम् के जबरदस्त मायिकी 'बवंडर' (whirlwind) में फँसा हुआ है। इस प्रकार हमारा सारा जीवन 'अहम्' के 'केन्द्र' के चारों ओर दिन-रात, अन्धाधुंध, बेतहाशा घूमता रहता है ।

यह सब कुछ हमारे मन के 'भ्रम' का ही परिणाम है जिस कारण सारे संसार में 'अहम्', 'मैं-मेरी' की ही प्रधानता तथा व्यवहार है ।

प्रत्येक जीव का 'अहम्', अथवा 'मैं-मेरी' का अलग-अलग अस्तित्व होने के कारण, यह एक दूसरे से टकराते रहते हैं। जिस में से—

स्वार्थ

लूटपाट

ठगगी

काला बाजार (black marketing)

तस्करी (smuggling)

चोरी

बेईमानी

ईर्ष्या

द्वेष
घृणा
जलन
वैर
विरोध
झगड़े
लड़ाईयाँ
अत्याचार

आदि की 'लपटें' निकलती हैं, जिससे 'जीव' अलग-अलग, तथा सामूहिक रूप से सारा संसार जल-भुन रहा है ।

हउमै जलते जलि मुए भ्रमि आए दूजै भाइ ॥ (पृ. 643)

जगतु जलंदा डिठु मै हउमै दूजै भाइ ॥ (पृ. 651)

हउमै जलिआ मनहु विसारे ॥

जमपुरि वजहि खड्ग करारे ॥ (पृ. 993)

मनमुख मूढ जलत अहंकारी हउमै विचि दुखु पाई ॥.....

कामि क्राधि डूबे अभिमानी हउमै विचि जलि जाई ॥ (पृ. 1265)

उठी गिलानि जगत विचि हउमै अंदरि जलै लुकाई ।

(वा. भा. गु. 1@7)

अकाल पुरूष का अस्तित्व एक है। जब हम अकाल परुष के अस्तित्व को 'भूल' जाते हैं, तब हमारे मन पर 'भ्रम' का अन्धकार या पर्दा पड़ जाता है तथा हमें अपना 'पृथक अस्तित्व' प्रतीत होता है ।

इसी भ्रम-भुलाव में ही हमें अन्य अनेक अलग-अलग 'अस्तित्व' प्रतीत होने लगते हैं, जो हमारे अपने पृथक अस्तित्व से अलग तथा भिन्न लगते हैं। इस प्रकार हम एक से अनेक अस्तित्व बने रहते हैं !!

इन पृथक अस्तित्वों के 'भ्रम-भुलाव' को ही, गुरबाणी में 'द्वैत भाव' (duality) कहा गया है। इस 'द्वैत भाव' का मूल कारण हमारे अपने अहम् की मैं-मेरी ही है ।

इसलिए जो अवगुण 'अहम्' में से उत्पन्न होते हैं, वही अवगुण जैसे — ईर्ष्या, द्वेष, वैर, विरोध आदि, 'द्वैत भाव' में भी प्रवृत्त हैं ।

हमारी अन्दरूनी गुप्त मायिकी 'अग्नि' की प्रकृति में अहम् के साथ-साथ 'द्वैत भाव' की 'भावना' भी प्रवृत्त है ।

'अहम्' तथा 'द्वैत भाव' — एक ही मानसिक 'भ्रम' के, दो 'पक्ष' हैं या एक ही सिक्के के दो पहलू हैं ।

गुरबाणी में इस 'द्वैत भाव' के विषय पर बहुत प्रकाश डाला गया है ।

यहाँ, इस 'अग्नि' से सम्बंधित, गुरबाणी की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं—

हउमै जलते जलि मुए भ्रमि आए दूजै भाइ ॥ (पृ. 643)

जगतु जलंदा डिठु मै हउमै दूजै भाइ ॥ (पृ. 651)

मनमुख माइआ मोहि विआपे दूजै भाइ मनूआ थिर नाहि ॥
(पृ. 652)

गुर का सबदु विसारिआ दूजै भाइ रचनि ॥
तिसना भुख न उतरै अनदिनु जलत फिरनि ॥ (पृ. 755)

इहु मनु जलिआ दूजै दोइ ॥ (पृ. 1176)

पाँच मानसिक वाशनाएँ काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहंकार में से 'तृष्णा' प्रधान रूप में प्रवृत्त 'रवि-रही-भरपूर' है, तथा हमें सदैव 'प्रेत' की भाँति चिपकी रहती हैं ।

‘अग्नि’ कुण्ड में ज्यों-ज्यों और लकड़ियाँ डालते जायें, त्यों-त्यों यह अग्नि प्रचंड होती जाती है ।

इसी प्रकार ज्यों-ज्यों हम अपनी अन्दरूनी मानसिक :-

कामनाओं

आवश्यकताओं

इच्छाओं

सुख-आराम

फैशन

स्वाद

वाशनाओं

नशे

आदतों

की पूर्ति करते जाते हैं, त्यों-त्यों इन तृष्णाओं की अग्नि बढ़ती जाती है। अन्त में हम इन वाशनाओं तथा कामनाओं के गुलाम बन जाते हैं ।

आसा मनसा मोहणी तामसु तिसना सांति न आवै ।

बलदी अंदरि तेलु पाइ किउ मनु मूरखु अगि बुझावै ।

(वा. भा. गु. 15@)

सारी जिन्दगी हम इन आवश्यकताओं या तृष्णाओं की पूर्ति के लिए सिर तोड़ प्रयास करते हैं, परन्तु फिर भी ‘तृष्णा’ की अग्नि नहीं बुझती। यदि एक इच्छा पूरी होती है, तो चार और पैदा हो जाती हैं !! उदाहरण के रूप में यदि अपने ‘घर’ की कामना पूरी हुई, तो उसे—

सजाने

संवारने

बढ़िया फर्नीचर

बढ़िया पर्दे
विद्युत यंत्र
रसोई का सामान
बेल-पौधे
पेन्टिंग्स

आदि अन्य अनेक कामनाएँ तथा आवश्यकताएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनकी कोई सीमा नहीं है ।

इनकी पूर्ति के लिए जब माया पूरी नहीं होती, तब हर उचित-अनुचित ढंग —

रिश्त
चोरी
काला बाजारी (black marketing)
मिलावट
तस्करी (smuggling)
डाके

आदि अपनाने पड़ते हैं ।

इस युग में तो हमारी आवश्यकताएँ, कामनाएँ, इच्छाएँ, फैशन, डिज़ाइन इतने अधिक प्रफुल्लित हो गये हैं कि इनकी पूर्ति के लिए हमारी सारी —

माया
समय
ध्यान
चतुराई
शक्ति

खर्च हो रही है परन्तु फिर भी कोई न कोई 'कसर' या 'कमी' रह

ही जाती है !! क्योंकि इन ख्वाहिशों या इच्छाओं का कोई अंत ही नहीं !!

इस प्रकार अपनी इच्छाओं की पूर्ति द्वारा अपनी तृष्णा की लपटों में स्वयं ही और ईंधन डालकर, अपनी मानसिक अग्नि को और तीव्र करते रहते हैं !!

Desire is the root cause of all miseries.

इतना ही बस नहीं — इसी तृष्णा की अग्नि से हम अपने मन को और —

जला कर

सड़ा कर

भून कर —

मैला

काला

कड़

कठोर

बनाते रहते हैं ।

इस प्रकार, हम दिन रात 'तृष्णा-अग्नि सागर' में जलते, भुनते हुए गुरबाणी के दैवीय उपदेशों तथा आत्मिक भावनाओं से —

दूर

बेपरवाह

अश्रद्धक

विमुरव

मन-मुरव

होते जाते हैं ।

इस तृष्णा के अधीन ही :—

तुच्छ विचार उत्पन्न होते हैं।
तुच्छ रुचियाँ बनती हैं।
तुच्छ योजनाएँ बनाते हैं।
बुरे कर्म करते हैं!
लूट-पाट करते हैं।
चोरी-बेईमानी करते हैं।
वैर विरोध करते हैं।
लड़ाई-झगड़े मोल लेते हैं।
पाप अर्जित करते हैं।
अत्याचार करते हैं।
बुरी आदतों का शिकार होते हैं।
तुच्छ आचरण बनता है।
बुरे भाग्य बनते हैं।
यम के वश पड़ते हैं।
नरक के भागीदार बनते हैं!

परन्तु, फिर भी हमें 'तृष्णा की अग्नि' से बचने का, या इसको कम करने का कभी ख्याल ही नहीं आता, प्रयास तो क्या करना था !!!

गुरबाणी हमें इस भयानक तृष्णा की अग्नि के विषय में यूँ ताड़ना करती है :—

त्रिसना अग्नि जलै संसारा ॥

जलि जलि खपै बहुतु विकारा ॥ (पृ. 1044)

अगिआनु त्रिसना इसु तनहि जलाए ॥

तिस दी बूझै जि गुर सबदु कमाए ॥ (पृ. 1067)

दुबिधा मनमुख रोगि विआपे त्रिसना जलहि अधिकार्ई ॥
मरि मरि जंमहि ठउर न पावहि बिरथा जनमु गवार्ई ॥

(पृ. 1130)

चारि नदीआ अगनी तनि चारे ॥

त्रिसना जलत जले अहंकारे ॥

(पृ. 1172)

बिनु नावै सूका संसार ॥

अगनि त्रिसना जलै वारो वार ॥

(पृ. 1173)

महा अभाग अभाग है जिन के तिन साधू धूरि न पीजै ॥

तिना तिसना जलत जलत नही बूझहि

डंडु धरम राइ का दीजै ॥

(पृ. 1325)

अंदरि तिसना अगि है मनमुख भुख न जाइ ॥

मोहु कुटंबु सभु कूडु है कूड़ि रहिआ लपटाइ ॥

(पृ. 1424)

गुरबाणी में इस मानसिक अग्नि, तृष्णा की अग्नि को बुझाने के साधन, यूँ बताने गये हैं —

गुर ते सांति ऊपजै जिनि त्रिसना अगनि बुझाई ॥

(पृ. 424)

त्रिसना दाधी जलि मुई जलि जलि करे पुकार ॥

सतिगुर सीतल जे मिलै फिरि जलै न दूजी वार ॥

(पृ. 588)

सतिगुरु दाता सेवीए सबदु वसै मनि आइ ॥

मनु तनु सीतलु सांति होइ त्रिसना अगनि बुझाइ ॥

(पृ. 588)

त्रिसना अगनि प्रभि आपि बुझाई ॥

नानक उधरे प्रभ सरणाई ॥

(पृ. 684)

‘मानसिक अग्नि’ की कई प्रकार की चिंगारियां — उपलों की गुप्त आग की भांति, कई जन्मों से जीव के अन्तःकरण के भीतर, गुप्त रूप में दबी हुई हैं। जब कभी किसी चिंगारी को बाहरी उक्साहट

की हवा लगती है, तो यह सुलगती आग भभक पड़ती है तथा प्रचंड ज्वाला बन जाती है ।

उदाहरण के रूप में— दो पड़ोसने किसी छोटी सी बात की उक्साहट के कारण आपस में झगड़ पड़ीं। एक दूसरे को ताने देते तथा गाली-ग्लोज करते-करते उनमें क्रोध की ज्वाला भभक उठी, और उनके 'तन बदन में आग लग गयी ।' उन दोनों के शरीर क्रोध की भट्ठी बन गए तथा वे स्वयं क्रोध का ही 'रूप' बन गयीं ।

उसी समय डाकिया (postman) एक स्त्री के लिए चिट्ठी लेकर आ गया। जैसे ही पता चला कि चिट्ठी उसके परदेशी पुत्र की है तो माँ-ममता से उसकी अन्दरूनी क्रोध की ज्वाला तुरन्त बुझ गयी तथा ज्यों-ज्यों वह चिट्ठी सुनती गयी-त्यो-त्यो उसका तन-मन, माँ-प्यार से उछल कर शीतल, कोमल, चाव, उमाह में आ गया। इस प्रकार क्रोध के भयानक 'विकराल रूप' से परिवर्तित होकर 'माँ-प्यार' के कोमल, सुन्दर स्वैपना की मूर्ति बन गयी ।

इन दोनों दशाओं —

'क्रोध की ज्वाला'

तथा

'प्रेम स्वैपना'

में जमीन-आसमान का फर्क है और ये दोनों दशाएँ — आपस में विरोधी तथा उल्ट हैं ।

इन दोनो विरोधी दशाओं के प्रकटाव का क्षेत्र, हमारा विरोधी 'मन' ही है ।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि हमारे अन्दर ही एक ओर 'आतिश दुनिया', 'अग्नि शोक सागर' है तथा दूसरी ओर 'खुनक नामु

खुदाइआ' है, "ठांढा हरि नाउ है।"

इन दोनों हालतों का निर्णय तथा चयन हमने स्वयं ही करना है तथा उसकी प्राप्ति के लिए :-

समझने
जानने
बूझने
विचारने तथा
उद्यम
साधना

करने की अति आवश्यकता है।

इस 'मानसिक अग्नि' या 'अगन-शोक-सागर' की जड़ हमारे अहम् का 'भ्रम-भुलाव' है।

यह अहम् का 'भ्रम' — प्रभु प्रकाश की अनुपस्थिति या अज्ञानता के अन्धकार में से उत्पन्न होता है।

दूसरे शब्दों में जब हम अकाल पुरुष को 'भूल' जाते हैं तथा उसके प्रकाश से 'विमुख' हो जाते हैं — तब हम 'अहम्' के 'भ्रम-भुलाव' में बसते तथा विचरण करते हैं।

जिस प्रकार अंधकार में ही, हर प्रकार की मुसीबतें या कीड़े-मकोड़े, मच्छर, बिच्छू, साँप आदि उत्पन्न होते तथा पलते हैं। इसी प्रकार हमारे मन के भ्रमरूपी अन्धकार में ही सारी मानसिक 'मुसीबतें' अथवा 'वाशनाएं' काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, तथा इनकी 'हठीली फौज' ईर्ष्या, द्वेष, जलन, नफरत, अशान्ति, स्वार्थ, दुख-क्लेश आदि का बोलबाला तथा व्यवहार होता है, जिन के 'ताप' से सारी दुनिया

‘मानसिक अग्नि’ में जल -भुन कर दुखी हो रही है : -

गूझी भाहि जलै संसारा भगत न बिआपै माइआ ॥ (पृ. 673)

जगतु जलंदा डिठु मै हउमै दूजै भाइ ॥ (पृ. 651)

बाबा देखै धिआन धरि जलती सभि प्रिथवी दिसि आई ।

(वा. भा. गु. 1@4)

गुरबाणी में ईश्वर के विस्मरण या ‘भूलने’ के यह परिणाम बताये हैं :-

जिनी नामु विसारिआ दूजी कारै लगि ॥

दुबिधा लागे पचि मुए अंतरि त्रिसना अगि ॥ (पृ. 29)

गुर का सबदु विसारिआ दूजै भाइ रचानि ॥

तिसना भुख न उतरै अनदिनु जलत फिरनि ॥ (पृ. 755)

हउमै जलिआ मनहु विसारे ॥

जम पुरि वजहि खड़ग करारे ॥ (पृ. 993)

जिस नो बिसरै पुरखु बिधाता ॥

जलता फिरै रहै नित ताता ॥ (पृ. 1086)

चले नामु विसारि तावणि ततिआ ॥

बलदी अंदरि तेलु दुबिधा घतिआ ॥ (पृ. 1289)

(क्रमशः)

